साधन-पथ

स्वामी भक्तिरक्षक श्रीधर

श्री श्री गुरु गौरांगौ विजयतेतराम्

साधन-पथ

अन्तर–परिपूर्णता हेतु प्रस्तावना

अनन्त श्री विभूषित श्रील भक्तिरक्षक श्रीधरदेव गोस्वामी महाराज के प्रवचन

संस्थापक–आचार्य, श्री चैतन्य सारस्वत मठ

श्रील भक्तिसुन्दर गोविन्ददेव गोस्वामी महाराज
अध्यक्ष – आचार्य – सेवायत
श्री चैतन्य सारस्वत मठ

प्रकाशक एवं स्वत्वाधिकारी :

श्री पूर्णानन्द ब्रह्मचारी
कृते श्रील श्रीधर स्वामी सेवाश्रम
श्री चैतन्य सारस्वत मठ
दस बिस्सा, गोवर्धन (मथुरा)

अनुवादक : डॉ० शैलेन्द्र नाथ पाण्डेय
वृन्दावन

तिथि : 8 नवम्बर 93, शुभ आविर्भाव तिथि

सम्पर्क स्थल : श्री चैतन्य सारस्वत मठ
कोलेरगंज, नवद्वीप धाम, नदिया – 741302
पश्चिम बंगाल, दूरभाष : 85

- श्री चैतन्य सारस्वत कृष्णानुशीलन संघ
  487, दमदम पार्क, कलकत्ता– 700055
  दूरभाष : 595175

- श्रील श्रीधर स्वामी सेवाश्रम
  श्री चैतन्य सारस्वत मठ
  दस बिस्सा, गोवर्धन, (मथुरा) उ. प्र.

- श्री चैतन्य सारस्वत मठ
  गौरबाट शाही, पुरी – 752001 उड़ीसा
  दूरभाष : 06752 - 3413

मुद्रक : श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन © 82415

लेखक के सम्बन्ध में

श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देव गोस्वामी महाराज श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट मूल परम्परागत संत-शृंखला के एक वरिष्ठ संन्यासी धर्मोपदेशक हैं तथा वे नवद्वीप, पश्चिम बंगाल, भारत स्थित श्री चैतन्य सारस्वत मठ नामक भक्तिभाव के दिव्य मन्दिर के संस्थापक-आचार्य हैं। परम तत्व के साक्षात्कार हेतु शरणागति के दिव्य क्षेत्र में प्रवेश के सच्चे अभिलाषी विश्व भर के भक्तों के लिये श्रील श्रीधर महाराज द्वारा सन् 1941 ई० में स्थापित पूजा का यह पवित्र देवालय अनुपम तीर्थ बन गया है। सम्पूर्ण भारत के आध्यात्मिक–जिज्ञासु जगत् में उनकी सार्वभौमप्रतिष्ठा का कारण शास्त्रों पर उनका असाधारण अधिकार मात्र नहीं है। पौरवात्व ऋषि-परम्परा से पोषित शास्त्रीय ज्ञान के भण्डार के एक सर्वसमर्थ एवं अधिकारी भाष्यकार के रूप में भी वे सर्वमान्य हैं। शास्त्रों के अन्तर्निहित मर्मको एक प्रगतिशील, प्रासंगिक, गत्यात्मक एवं जीवन्त विचारधारा के रूप में उजागर करने में उनका पाण्डित्य अभूतपूर्व है।

इस प्रकार अपने मिशन के उज्ज्वल भविष्य के प्रति सर्वतोभावेन आश्वस्त एवं संतुष्ट श्रील श्रीधर महाराज ने 12 अगस्त 1988 को गोलोक लीला में प्रवेश हेतु प्रस्थान किया।

1985 में इस असार संसार से अपने प्रयाण से तीन वर्ष पूर्व श्रील श्रीधर महाराज ने प्रायः चालीस वर्षों से संचित अपनी एक निजी हार्दिक अभिलाषा पूरी की। उन्होंने अपने परम प्रिय, विश्वासपात्र तथा परम वरिष्ठ सहयोगी-सेवक श्रीमद् भक्ति सुन्दर गोविन्द महाराज को सन्यास की दिव्य दीक्षा प्रदान की। अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एवं सूक्ष्म अध्यात्म-दृष्टि के लिये चिरविख्यात श्रील श्रीधर महाराज ने अपने मिशन के भविष्य की गंभीर आवश्यकताओं को पहले से भाँप लिया था। इसलिये उन्होंने श्रीमद् बी. एस. गोविन्द महाराज को अपने निजी मठ, श्री चैतन्य सारस्वत मठ तथा उससे सम्बद्ध विश्व की समस्त शाखाओं के लिये अपने उत्तराधिकारी आचार्य-अध्यक्ष के रूप में नामित कर दिया।

प्राक्कथन

मैं अपने श्रील गुरुमहाराज, श्रील भक्तिरक्षक श्रीधरदेव गोस्वामी महाराज के व्यक्तिगत सानिध्य को प्राप्त कर तथा अब इस परिचयात्मक पुस्तिका की प्रस्तावना प्रस्तुत करने का अवसर पाकर अपने को बड़ा भाग्यशाली अनुभव कर रहा हूँ । श्रील गुरु महाराज ने जो कुछ अपने जीवन में, आचरण किया, उसी का उपदेश किया । सच्चे, सुखद आध्यात्मिक जीवन के विषय में उसके ज्ञाता एवं साक्षात्कर्त्ता ही प्रमाण हैं । उनका जीवन ही उसका वास्तविक परिचय है किन्तु व्यक्तिगत रूप से हर एक से मिल पाना उनके लिये संभव नहीं होता । अतएव आधुनिक विज्ञान ने पुस्तकें छपाने की जो सुविधा प्रदान कर रखी है उसका लाभ उठाते हुए हम उक्त ज्ञान का व्यापक प्रचार करने को कृत संकल्प हैं । इस रूप में एक मुद्रण प्रेस से उद्‌भूत प्रकंपन न केवल भौतिक जगत को लाभदायक रूप से प्रभावित कर सकती है अपितु वह आध्यात्मिक धरातल पर प्रतिष्ठित मुक्तात्माओं को भी विजित कर सकती है ।

अतः इस पुस्तिका : साधन–पथ : अन्तर-परिपूर्णता हेतु एक प्रस्तावना का प्रकाशन अत्यन्त आनन्द और सन्तोष का

विषय है । यह हमारे अध्यात्म-गुरु महाराज के आस्तिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर किये गये प्रवचनों से संग्रहीत है। उनके ही दिव्य मिशन की सेवा हेतु इसे मुद्रित रूप में पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है । यह कार्य यहाँ के छात्रों-साधकों के सत्प्रयासों का सुफल है ।

इस धरा-धाम में श्री गुरु महाराज ने अपने अन्तिम दिनों तक बद्ध जीवों पर कृपा-प्रसाद स्वरूप अनवरत प्रवचन किये । ऐसे प्रवचन कभी कभी तो अविराम रूप से घण्टों-घण्टों चला करते थे । उनके उदाहरण से हम शास्त्रों की उस आज्ञा को समझ सकते हैं कि हमें भी अपने अन्तिम दम तक अतीन्द्रिय सेवा-क्षेत्र के प्रति सेवा-भाव से समर्पित रहना चाहिये— तथा वही समान सुअवसर दूसरों को भी प्रदान करना चाहिये ।

यदि कोई निष्ठा और सावधानीपूर्वक इस पुस्तिका को पढ़ेगा तो उसका लाभ अवश्य होगा तथा वह आन्तरिक परिपूर्णता के सच्चे जीवन की ओर उन्मुख होने के लिये प्रेरणा एवं सुअवसर भी प्राप्त करेगा ।

सविनय,
त्रिदण्डी स्वामी भक्ति सुन्दर गोविन्द
श्री चैतन्य सारस्वत मठ

ॐ विष्णुपाद श्री श्रील भक्तिसुन्दर गोविन्द देव गोस्वामी महाराज
प्रतिष्ठाता — आचार्य
श्रील श्रीधर स्वामी सेवाश्रम

ॐ विष्णुपाद श्री श्रील भक्तिरक्षक श्रीधर देव गोस्वामी महाराज

भाग एक

कृपया, जो मैं समझाऊंगा, उसे ध्यानपूर्वक सुनें । मैं आप लोगों को विषय, वैज्ञानिक रूप से समझाने का प्रयास करूँगा । इस कार्य में मैं सामान्यतया सभी धार्मिक मान्यताओं से स्वतन्त्र रहूँगा ।

सर्वप्रथम हमें समझना है कि जीवन के तीन धरातल हैं : सांसारिक सुख का स्तर, त्याग का स्तर तथा समर्पण का स्तर । विषय भोग का धरातल कमीवेश वहीं है जहाँ हम वर्तमान समय में हैं । विषय सुख का अर्थ है शोषण, शोषण के बिना इस धरातल में कोई जीवित नहीं रह सकता :

अहस्तानि सहस्तानां
अपदानि चतुष्पदाम् ।
लघूनि तत्र महतां
जीवो जीवस्य जीवनम् ।।

जीव ही जीव का जीवन है अर्थात् जीव को नष्ट करके ही जीव अपने जीवन की रक्षा करता है । जिनके हाथ हैं वे उन पर जीते हैं अर्थात् उन्हें अपना आहार बनाते हैं, जिनके

हाथ नहीं हैं। इसी प्रकार चतुष्पद घास-पात आदि वनस्पति पर जीवित रहते हैं—तात्पर्य यह कि बड़ा छोटे का भक्षण करके जीता है। हर वस्तु सजीव है : लता, घास तथा वृक्षों में भी जीवन है, किन्तु शोषण के बिना अपने शरीर की रक्षा कोई नहीं कर सकता।

यह शोषण का धरातल है और जैसा कि न्यूटन का तृतीय नियम कहता है, प्रत्येक क्रिया की समान और विपरीत प्रतिक्रिया है। शोषण द्वारा व्यक्ति एक ऋण लेता है तथा ऋण लेने से उसका अधोगमन अवश्यम्भावी है। इस प्रकार शोषण के धरातल पर क्रिया-प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक जीव ऐसे हैं जिनका उत्थान पतन होता रहता है। समाज पूरी तरह शोषण पर आमादा है, हर जगह दूसरे की कीमत पर जीने का प्रयास चालू है। उसके बिना इस क्षेत्र में जीवन असम्भव है क्योंकि यह शोषण का धरातल है।

बौद्ध, जैन, शंकर के अनुयायी तथा अन्य अनेक लोग शोषण के इस धरातल से मुक्त होने हेतु प्रयासरत हैं। वे ऐसे जीवन की खोज में हैं जहाँ शोषण नहीं है, क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। इस क्रिया प्रतिक्रिया से छुटकारे के लिये वे सन्यासं का मार्ग अपनाकर स्वप्नरहित निद्रा अर्थात् समाधि की अवस्था प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। ऐसा करके वे अपने को विषय-जगत से वापस खींच कर आत्मनिष्ठ धरातल में पूर्णतया निमग्न करना चाहते हैं। वे अपनी इच्छाओं–भावनाओं को निम्नतर धरातल पर जाने से रोक कर सदैव एक आत्मपरक स्थिति बनाये रखते हैं। वह स्थिति बहुत कुछ गहन सुषुप्ति की सी अवस्था है।

वैष्णव वर्ग, जो परमात्मा के सगुण-साकार रूप का उपासक है—यह मानता है कि एक अन्य जगत भी है और वह है समर्पण का जगत । वह समर्पण शोषण का ठीक विलोम है। भौतिक धरातल पर प्रत्येक इकाई समस्त पर्यावरण का शोषण करना चाहती है, किन्तु समर्पण के धरातल में प्रत्येक इकाई पर्यावरण की सेवा करना चाहती है। यह सेवा केवल पर्यावरण को नहीं अपितु उसके केन्द्र बिन्दु की सेवा है । वही सच्ची सेवा की कुंजी है । हम एक जैविक पूर्ण में निवास कर रहे हैं अतः उसके हर बिन्दु को उस जैविक पूर्ण के प्रति ईमानदार होना चाहिये । इस बात को श्रीमद्भागवत में एक वृक्ष के मूल की सेवा के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है :

यथा तरोर्मूल निषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्ध–भुजोपशाखाः
प्राणोपहारा च यथेन्द्रियाणाम्
तथैव सर्वारहणम् अच्युतेया

वैदिक साहित्य में भी हम यह कथन देखते हैं, कि उसे प्राप्त करने का प्रयास करो जिसका ज्ञान हो जाने से सब कुछ जाना हुआ हो जाता है :

यस्मिन ज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति
यस्मिन प्राप्ते सर्वमिदं प्राप्तं भवति
तद् विजिज्ञास्व तदेव ब्रह्म

एक केन्द्र बिन्दु है जिसे जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है, जिसे प्राप्त कर लेने से सब कुछ प्राप्त हो जाता

है। वैदिक शिक्षा का परम तात्पर्य उस केन्द्र की खोज के प्रयास में है । अतः उस केन्द्र को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। आरंभ में इसे कोई उपहास्य दावा मान सकता है : ''एक को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है, एक को पा जाने से सब कुछ प्राप्त कर लिया जाता है– यह क्या है ? केवल एक पागल ऐसी बातें कर सकता है ।'' इसलिये श्रीमद्भागवत में एक उपमा दी गयी है : जब तुम पेड़ की जड़ में पानी देते हो तो पूरे पेड़ को पानी मिल जाता है, और यदि तुम पेट में भोजन डालते हो तो पूरे शरीर को खुराक मिल जाती है, इसी प्रकार यदि तुम केन्द्र की सेवा करते हो तो सबकी सेवा हो जाती है । यह संभव है और इसे करने का अभिप्राय है समर्पण के क्षेत्र में प्रवेश। शोषण के धरातल तथा त्याग-वैराग्य के धरातल से भी बच कर सेवा के धरातल में प्रवेश करने का प्रयास करो । तुम्हारी आत्मा, तुम्हारा निज स्वरूप उसी धरातल का एक सदस्य है। वही वास्तविक लोक है जबकि इहलोक उसी की विकृति एवं परछायीं है ।

वास्तविक जगत वह है जहां प्रत्येक इकाई परम केन्द्र पर आधारित पूर्ण के प्रति समर्पित है, जिस प्रकार एक स्वस्थ शरीर में उसका प्रत्येक अणु सम्पूर्ण शरीर के हित में कार्यरत होता है । यदि कोई अणु अपने लिये कार्य करने लगे, तो वह शोषण की अति होगी । इस प्रकार के स्वार्थपूर्ण कार्य निस्सन्देह बुरे हैं । शरीर का प्रत्येक अंग, उसका प्रत्येक अंश सम्पूर्ण तन्त्र के हित में कार्य करने हेतु बना है । एक केन्द्र है उसी के मार्गदर्शन में पूरी प्रणाली कार्य करेगी। केन्द्र की स्थिति क्या है ? भगवद्गीता में कहा गया है–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज (भगवद्गीता 18.66) कृष्ण अपनी स्थिति स्पष्ट करते हैं : ''सभी धर्मों, कर्त्तव्यों का परित्याग कर दो और केवल मेरी शरण में आ जाओ।''

अब इस विचार को मैं एक दूसरे दृष्टिकोण से रखना चाहता हूँ।

हीगेल एक श्रेष्ठ जर्मन दार्शनिक था और उसका दर्शन पूर्णतावाद कहलाता है। उसने एक विचार रखा है : प्रत्येक वस्तु के मूल कारण, परम सत्य के दो गुण अनिवार्य हैं। वे क्या हैं ? उसे अपने द्वारा होना चाहिये और अपने लिये होना चाहिये।

कृपया ध्यान दीजिये। अपने द्वारा का अर्थ है कि वह अपना कारण स्वयं है– उसका सृजन किसी अन्य ने नहीं किया। यदि उसका सृजन किसी अन्य ने किया हो तो उस सृष्टा का अधिक महत्व हो जायेगा। अतएव, निरपेक्ष होने के लिये उसे अनादि होना चाहिये, शाश्वत रूप से अस्तित्व-शील, न कि किसी अन्य द्वारा सृजित। निरपेक्ष में यह गुण परमावश्यक है।

दूसरा गुण है कि निरपेक्ष सत्य अपने लिये है। वह अपनी संतुष्टि के लिये है, किसी अन्य को सन्तुष्ट करने के लिये नहीं। यदि उसकी सत्ता किसी अन्य तत्व को संतुष्ट करने के लिये हो तो वह गौण हो जायेगा तथा प्रधान स्थान उसका हो जायेगा जिसके लिये वह (परमतत्व) जी रहा है।

अतः परम तत्व में उपर्युक्त दो गुण आवश्यक हैं । वह अपना कारण स्वयं है तथा केवल आत्म-तुष्टि के लिये, अपने निजी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अस्तित्व में रहता है । निरपेक्ष अपने द्वारा और अपने लिये है । यदि एक तृण भी हिलता है तो वह इसलिये कि उसके हिलने से परम का उद्देश्य पूरा होता है । प्रत्येक घटना, प्रत्येक वस्तु, जो कुछ भी घटित होता है-वह उसकी संतुष्टि के लिये होता है । अतः वास्तविक प्रवाह उसकी लीला, उसकी क्रीड़ा है। किन्तु हम हैं कि अन्यान्य हितों के लिये जीते हैं– पारिवारिक हित, राष्ट्र हित, सामाजिक हित अथवा मानवतावाद इत्यादि । किन्तु व्यापक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि हम सब अलग–अलग एक क्षुद्र अंश मात्र हैं तथा अपने निज स्वार्थों के लिये कार्य कर रहे हैं । असंख्य निजी स्वार्थों के बीच टकराव है और इसलिये संकट है । किन्तु हमें अपने तथाकथित विशेष स्वार्थों को छोड़ना है, नासमझी से उबरना है। इस प्रकार हमें पूर्ण के हित में समर्पित एक इकाई की भूमिका निभाने का कार्य करना है।

भगवद्गीता में कृष्ण द्वारा दिये गये उपदेश का निष्कर्ष है सर्वधर्मान्परित्यज्य– उन सभी कर्त्तव्यों को छोड़ दो जिन्हें तुम मानते हो कि तुम्हें अभी पालन करना है तथा मेरी शरण में आ जाओ– मामेकं शरणं व्रज ।''

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः

''मैं तुम्हें तुम्हारे सारे कष्टों से मुक्त कर दूँगा ।''

दूसरे शब्दों में तुम्हें स्मरण रखना है कि तुम विश्व-

केन्द्र के प्रति निष्ठावान रहो । अभी तुम्हारे सारे कर्त्तव्य स्थानीय हितों–स्वार्थों के लिये हैं, किन्तु अपने निजी हितों की संकीर्ण परिधि को तोड़कर बाहर निकलो तथा विराट जैविक पूर्ण के हितों में अपने को निःशेष विलीन कर दो ।

हम देखते हैं कि यदि एक पुलिस अधिकारी अपने निजी प्रयोजन के लिये तीन रुपये भी ले ले तो उसे सजा होती है किन्तु वही अधिकारी यदि देश के हित में तमाम लोगों को मार भी दे तो उसे पुरस्कृत किया जाता है । इसी प्रकार जो कुछ पूर्ण की संतुष्टि के लिये किया जाता है वह शुभ है किन्तु तुम कोई कार्य अपने लिये अथवा अपने मित्र के लिये करते हो तो तुम्हें दण्ड मिलेगा । एक उद्योग में अपने व्यक्तिगत प्रयोजन हेतु हमें घूस लेने का अथवा हड़ताल करानेका एवं श्रमिकों से कार्य बन्द कराने का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि उससे उद्योग नष्ट हो जायेगा ।

न तो शोषण से काम चलेगा, न त्याग से । शोषण स्पष्टतया बुरा है और चूंकि हमें हड़ताल करने का अधिकार नहीं है अतः त्याग भी बुरा है । एक जैविक समष्टि में सार्वजनिक हित केन्द्र के प्रति समर्पण में निहित है और केन्द्र से तात्पर्य है पूर्ण से । जब हम भोजन को उदर में डालते हैं तो वह उसका समुचित वितरण कर शरीर के सभी अंगों को आवश्यकतानुसार उसे पहुँचा देता है । इस प्रकार के जीवन को वैष्णवता कहते हैं । एक जैविक पूर्ण है और हम उसके एक अंग हैं । उस पूर्ण के प्रति हमारे विशेष कर्त्तव्य हैं और वे मूलतया पूर्ण के प्रति समर्पण हैं । हमें भोजन को उदर के

सिवा आँख, नाक, अथवा कान अथवा अन्यत्र नहीं पहुँचाना है। पेट में भोजन पहुँच कर समुचित रूप से पूरे शरीर में वितरित हो जाता है और पूरा तन्त्र स्वस्थ रहता है। हम सब विराट विश्व के अंग हैं और हमारा कर्त्तव्य है उस पूर्ण के लिये कार्य करना-वह कार्य है भक्ति, सेवा और समर्पण। और उसके विषय में हमें ज्ञान कैसे हो ? उक्त विषय में हमें सहायता तथा मार्गदर्शन मिलेगा शास्त्रों से तथा सन्तों एवं साधकों से जो उस धरातल से अवतरित होकर हमें सामंजस्य में लाते हैं।

हमें उच्चतम सामंजस्य का धर्म महाप्रभु श्री चैतन्य देव द्वारा प्रदान किया गया है जिन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर भक्ति की व्याख्या की है। स्पष्टतया श्रीमद्भागवत वह ग्रन्थ है जिसे समस्त शास्त्रों का सच्चा उपसंहार माना गया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि शक्ति सर्वोच्च वस्तु नहीं है, ज्ञान उससे भी ऊपर है। ज्ञान शक्ति पर नियन्त्रण कर सकता है और उसके लाभप्रद परिणाम निकाल सकता है, किन्तु पुनः ज्ञान का स्तर भी सर्वोच्च नहीं है—उसका स्थान दूसरा है—उससे भी ऊपर प्रेम है और वही सर्वोपरि है। जीवन की परिपूर्णता केवल प्रेम से ही प्राप्त हो सकती है। वह न तो ज्ञान से मिल सकती है न शक्ति से।

दया न्याय से श्रेष्ठ है। न्याय केवल वहाँ होता है जहाँ नियम कानून आदि की बाध्यता है, किन्तु परम पूर्ण के क्षेत्र में जो कि निरपेक्ष शुभ का क्षेत्र है, वहाँ किसी आशंका के लिये अवकाश नहीं है। वह परम शुभ है और परम शुभ विशुद्ध प्रेम है तथा वही वास्तविक घर है। ईश्वर के पास

वापस चलो, अपने घर वापस चलो । घर क्या है ? घर वह स्थल है जहाँ हम अनुभव करें कि हम अपने शुभचिन्तकों के बीच हैं । यदि हम स्वयं अपने लाभ की चिन्ता नहीं करते तो वहाँ ऐसे अनेक लोग हैं जो हमारी चिन्ता करेंगे-वास्तव में पूरा परिवेश हमारी चिन्ता करेगा– और वही घर है । वही पूर्ण का क्षेत्र है, और हम उसकी सेवा में वहाँ प्रवेश कर सकते हैं । वही सर्वोच्च स्थिति है जहाँ निवास करने वाले प्रेम, स्नेह, सामंजस्य और सौन्दर्य का हम साक्षात्कार कर सकते हैं । सारे गुण समान हैं और यही परम कारण तथा परम शुभ का स्वरूप निर्मित करते हैं और हमें वहीं जाना है।

अपनी स्वतंत्र-इच्छा का दुरुपयोग कर हम पथ भ्रमित अवश्य हो गये हैं किन्तु अब हमारे लिये पुकार आ रही है, ''घर वापस आओ, प्रभु के पास, सच्चे गृह, उच्चतम स्थिति, प्रेम धाम को वापस आ जाओ।'' सामान्य रूप में तथा संक्षेप में यही उस अवधारणा का निष्कर्ष है जिसे मैंने आपके समक्ष रखा है । श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत में प्रतिपादित कृष्ण-विचार यही है और इसे ही श्रीचैतन्यदेव ने प्रस्तुत किया है । यह चैतन्य साररवत मठ तथा सम्पूर्ण गौड़ीय मिशन केवल इसका ही प्रचार कर रहे हैं। ''केन्द्र के पास जाओ, उस केन्द्र के प्रति निःशेष समर्पण में अपने जीवन का सदुपयोग करो, तथा केन्द्र समस्त न्याय–विधान से बहुत ऊपर है । वह परम कृपालु, प्रेममय, प्रिय और सुन्दर है ।''

यह वैष्णव धर्म, श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीमद्भागवत की सामान्य पृष्ठभूमि है । यह धर्म के सभी रूपों–अर्थात् कि

जीवन के तीन धरातल हैं, शोषण, त्याग एवं समर्पण तथा निजात्मा स्वयं समर्पण देश का सदस्य है, का भी एक संक्षिप्त इतिहास है। हर जीवात्मा समर्पण की इकाई है किन्तु किसी प्रकार अपने आंशिक संकल्प-स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग कर वह शोषण के क्षेत्र में प्रवेश कर गयी है। बुद्ध, जैन, पार्श्वनाथ तथा अन्य लोगों ने उन लोगों की सहायता की है जो पूर्ण विरक्ति और उपरति द्वारा इस शोषण के जगत–क्रिया-प्रतिक्रिया के क्षेत्र से मुक्त होना चाहते हैं। उन्होंने कहा है कि जीवन से उपरति के पश्चात् आत्मा आनन्दपूर्वक रह सकती है। तब भी यह सम्भावना शेष रहती है कि जीव पुनः इस जाल में फंस जाय। किन्तु जहाँ वास्तविक मुक्तात्माओं का निवास है, उस लोक में सभी समर्पित इकाइयाँ हैं और जब हम यह जानना चाहते हैं कि वहाँ उनका सामंजस्य और धारण कौन कर रहा है तो स्पष्ट होगा कि वे सब पूर्ण के लिये कार्यरत हैं। वह पूर्ण एक परम शुभ द्वारा प्रतिनिधित्व प्राप्त करता है। हमें यह सब देखना है और इसके लिये मानव जन्म बड़ा मूल्यवान है। जहाँ तक साधुओं, सन्तों तथा देवदूतों की बात है वे इस जाल से मुक्त होते हैं। हमें भी इस मायाजाल से बच निकलने तथा प्रेम, सेवा एवं स्नेह के क्षेत्र में प्रवेश करने का पूरा प्रयास करना है।

हमने पहले भी कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं। ऐसे कई प्राचीन शास्त्र भी हैं जो धर्म के तमाम तत्व भी संघात्मक पक्षों के विषय में अधिक उचित तथा विस्तृत रूप से प्रकाश डालते हैं और उन्हें समझने में हमारी सहायता करते हैं।

●

भाग दो

हमारा वास्तविक घर स्वतंत्रता, अधिकाधिक सुख एवं प्रत्येक वस्तु से परिपूर्ण है । वह ऐसा स्थान है जहाँ विश्वास, प्रेम, स्नेह आदि का स्वाभाविक व्यवहार है । वह अचिन्त्य है। उपनिषदें कहती हैं, ''अपनी तर्कबुद्धि से अचिन्त्य धरातल की परीक्षा का प्रयास मत करो। वह धरातल वास्तव में तुम्हारी बुद्धि की पहुँच से परे है । वह नियमों के एक भिन्न संविधान के अधीन है । इस जगत में तुम्हारे गणितीय आंकलन एवं निष्कर्ष बिन्दुओं, रेखाओं एवं मूर्त वस्तुओं के आधार पर चलते हैं । वर्तमान स्थिति में तुम ठोस वस्तुओं के जगत के प्राणी हो तथा बिन्दुओं एवं धरातलों से तुम्हारा सीमित परिचय एक अमूर्त रूप में है । अतः तुम उच्चतर कोटि की वस्तुओं की माप, जिसका तुम्हें कोई ज्ञान नहीं है, कैसे कर सकते हो? उस जगत की जीवन-शैली और नियमों का तुम्हें कोई ज्ञान नहीं है, अतः तुम उनके विषय में बहस करने के अधिकारी नहीं हो । वह धरातल बिल्कुल भिन्न प्रकृति का है ।''

यदि तुम्हारी समझ जल के नियमों तक सीमित है तो तुम वायु के विषय में माप कैसे कर सकते हो ? इसी प्रकार यदि तुम केवल वायु के नियमों से परिचित हो, तो तुम आकाश के क्षेत्र की कोई माप-जोख कैसे कर सकोगे ? अतएव उन प्रश्नों को अपनी प्रयोगशाला में लाने की जल्दबाजी मत करो जो तुम्हारी चिन्तन-प्रक्रिया की शक्ति से परे है, क्योंकि ऐसा करना मूर्खता होगी ।

उच्चतर तत्वों का अस्तित्व है अवश्य किन्तु इस जगत के सामान्य मनुष्य को उनका ज्ञान नहीं है । हम निस्सन्देह अनुभवकर्त्ता हैं तथा हमें कुछ ज्ञान भी है किन्तु वह एक निश्चित सीमा एवं स्तर तक ही है । हम उसकी माप का प्रयास नहीं कर सकते जो हमारी पहुंच से परे है। किन्तु वे, जिनका उस धरातल का वास्तविक अनुभव है, यदि आकर हमें उसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी दें तो हम कुछ तुलना कर सकते हैं: ''इस व्यक्ति ने आकाश के विषय में अपने अनुभव को इस प्रकार लिखा है, दूसरे व्यक्ति ने जिसको भी आकाश के विषय में कुछ अनुभव है तथा प्रयोग भी किये हैं, आकाश के सम्बन्ध में दूसरे प्रकार से लिखा है । इस प्रकार हम उनके अनुसन्धानों तथा विषय के साथ उनके वास्तविक परिज्ञान से कुछ अवश्य जान सकते हैं ।''

दूरदर्शी यन्त्र के विषय में खोज करने वालों के वर्ग में हम उनके निष्कर्षों की तुलना कर सकते हैं । एक दूरबीन के साथ शोध करने वाले एक शोधार्थी के अनुभव की तुलना हम दूसरे शोधार्थी के दूरबीन विषयक अध्ययन से कर सकते हैं । इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस

निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि संभवतः एक दूरबीन अधिक शक्तिशाली रहा होगा जबकि दूसरा दूरबीन किसी दूसरे क्षेत्र-विशेष में अधिक शक्ति सम्पन्न होगा। इस प्रकार यद्यपि हमारे पास दूरबीन अथवा उसका ज्ञान न हो तो भी हम एक निश्चित सीमा तक अन्य शोधार्थी वैज्ञानिकों द्वारा दूरबीन विषयक की गयी खोजों के आधार पर उस क्षेत्र की कुछ तुलना कर सकते हैं जो हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे है।

शास्त्रों में उच्चतर वस्तुओं के विषय का विवेचन किया गया है। वस्तुतः उक्त वस्तुओं की खोज मानसिक 'दूरबीन' अथवा आत्मा के दूरबीन से की गयी है। इस विषयवस्तु का ज्ञान सन्तों को होता है और उस अतीन्द्रिय लोक में प्रवेश हेतु हमें उनका आश्रय लेना होगा। अभी हमें उच्च धरातल का अनुभव नहीं है किन्तु सन्तों और शास्त्रों की सहायता से जब हमें भी उक्त कोटि का दूरबीन प्राप्त हो जायेगा तो हमको भी उच्चतर अनुभव प्राप्त होंगे।

स्वे स्वेधिकारे या निष्ठा सागुणाः परिकीर्तिताः

''अपने निजी धरातल पर ध्यान केन्द्रित करना सराहनीय है।''

अचिन्त्याः खलु ये भावा
नष्टां तर्केण योजयेत

तर्क शक्ति को सब कुछ आच्छादित मत करने दो। युक्ति सब कुछ नहीं है। ऐसा नहीं है कि तार्किक युक्ति को प्रत्येक विश्वास का आश्रय होना ही चाहिये। आध्यात्मिक क्षेत्र

अचिन्त्य है, बुद्धि से परे है, फिर भी हमें अपनी शक्ति, श्रद्धा और अनुभूति के आधार पर उसे समझने का प्रयास करना है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि हमें अपने मस्तिष्क में बैठाना है कि कुछ भी हो मधुरता मधुर है तथा सत्य सत्य है किन्तु हमें ऐसा नहीं करना है कि इस ऐन्द्रिक जगत के किसी मापदण्ड को ले लें और उसे उच्चतर आध्यात्मिक क्षेत्र में लागू करें ।

यदि एक व्यक्ति के आँखें नहीं हैं तो स्वाभाविक है वह उस व्यक्ति से सहायता लेगा जो देख सकता है । हमारे शरीर के भीतर क्या है क्या नहीं इस विषय में हम भी अन्धे ही हैं अन्यथा डॉक्टर के पास जाने की क्या आवश्यकता है। जो हम नहीं देख सकते उसे डॉक्टर देख सकता है । वह रोग का निदान करेगा और तब हम इलाज आरंभ करायेंगे । स्वाभाविक है कि हम डॉक्टर के प्रति सम्मान रखें तथा उसकी सेवा के लिये उसे कुछ दें, इसमें कुछ अनुचित नहीं है ।

गुरु विशेषज्ञ डॉक्टर हैं, और हम उसकी योग्यता को तब पहचानेंगे जब यह देख लेंगे कि जो कुछ वह कहता है सत्य है, काल्पनिक नहीं । यह दृष्टि इस पर निर्भर होगी कि हमारी देख सकने की शक्ति कहाँ तक जाग्रत हो चुकी है। यदि एक अन्धे व्यक्ति का इलाज एक कुशल डॉक्टर द्वारा किया जाता है तो वह धीरे-धीरे प्रत्यक्ष देखने लगेगा और कहेगा, ''हाँ, अब मुझे कुछ कुछ दिखलाई पड़ने लगा है। अब मुझे कुछ चाक्षुष अनुभव होने लगा है ।'' उसी समय से

वह अन्य अन्धे लोगों की काल्पनिक, चिन्तनात्मक अवधारणाओं की चिन्ता नहीं करेगा, किन्तु उसके स्वयं सीधे प्रत्यक्ष करने की शक्ति हो जायेगी । दृष्टि-शक्ति लौट आने से वह समझ सकेगा कि दवा का कुछ वास्तविक प्रभाव हुआ है।

वैज्ञानिक समझ भी इसी प्रकार है । पहले जब फैराडे ने बिजली की खोज की तो बहुत से लोग हँसे, ''यह क्या है? यह मात्र कौतूहल है। हमें इस बिजली से क्या लाभ होगा?''

मैंने एक बार फैराडे द्वारा अपने आविष्कार के प्रभाव के प्रदर्शन विषयक उसके एक प्रयोग के संबंध में एक विवरण पढ़ा । उसने एक मशीन द्वारा बिजली पैदा की और फिर यह दिखाया कि कागज के छोटे छोटे टुकड़ों में उस विद्युतधारा द्वारा कैसे हलचल उत्पन्न हो रही है । उसकी खोज और प्रदर्शन से कई लोग संतुष्ट हुये किन्तु एक महिला ने टिप्पणी की, ''किन्तु फैराडे महोदय आपके इस रोचक प्रदर्शन से हमें वास्तविक लाभ क्या होगा ?''

फैराडे ने उत्तर दिया, ''महोदया क्या आप मुझे बता सकती हैं कि एक नवजात शिशु की क्या उपयोगिता है ?'' उसका आशय था कि बच्चा जब पैदा होता है तो हमें उसकी पूरी देखभाल करनी होती है । आगे चलकर जब वह बड़ा होगा तो उसकी शक्ति विभिन्न कार्यों लायक होगी । इस प्रकार उपयोगिता की बारी बाद में आती है । इसी प्रकार कुछ लोग सोचते हैं कि ईश्वर-चेतना मात्र एक विलास, एक फैशन अथवा मनोरंजन सी है–अर्थात् व्यावहारिक जीवन के

लिये उसकी कोई प्रत्यक्ष उपयोगिता नहीं है । किन्तु जब ईश्वरीय चेतना तीव्र और सघन हो जायेगी, तो जो उसका अनुभव करेंगे उन्हें लगेगा कि अन्य सारे कार्यकलाप, वे ऊपरी दृष्टि से कितने भी महत्वपूर्ण प्रतीत होते हों, वास्तव में कोई मूल्य नहीं रखते । क्यों ? क्योंकि अन्ततः हम जीना चाहते हैं । हम मरना नहीं चाहते ।

जीना हमारी मुख्य आवश्यकता है और यह हम सबकी सामान्य आवश्यकता है । अपितु सब जीवित रहना चाहते हैं। कोई इन्कार नहीं कर सकता कि वह जीवित रहना चाहता है- और मात्र जीवित रहना ही नहीं, सुख-शान्ति और सजग रूप से जीना चाहता है। यही नहीं, हम सारे कष्ट और दुख से बचना चाहते हैं ।

जब किसी में ईश्वरीय चेतना का उदय होता है तो वह स्पष्ट देख सकता है, ''सब लोग इस भौतिक जगत की मृग-मरीचिका में क्यों दौड़ रहे हैं ? हर कोई सुख चाहता है किन्तु सभी एक काल्पनिक प्रेत छाया का पीछा कर रहे हैं ।''

नश्वर वस्तुओं से कभी आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता । हम नश्वर जगत के साथ सौदा कर रहे हैं, किन्तु वह हमें तृप्ति नहीं प्रदान कर सकता । वह केवल हमारी शक्ति का क्षय कर सकता है । एक ओर से हम जो कुछ संचय करते हैं, वह दूसरी ओर से खो देते हैं । कोई बुद्धिमान शक्ति के ऐसे अपव्यय को जीवन के सिद्धान्त के रूप में न तो अपना सकता है न सहन कर सकता है। ऐसा विवेकशील पुरुष जीवन के दूसरे धरातल को देख सकता है । वह देख सकता

है कि वह इस मरणशील जगत जो कि एक क्रीड़ा स्थल की भाँति है, के साथ प्रतिबद्ध नहीं है । वह अनुभव करेगा कि मैं अमर हूँ । मैं अमर लोक का प्राणी हूँ किन्तु किसी प्रकार इस मृत्युलोक मैं फंस गया हूँ । अत: जितने शीघ्र मैं इस सम्बन्ध से मुक्त हो सकूँ उतने ही शीघ्र अपनी सामान्य स्थिति में आ जाऊँगा ।'' वह अनुभव करेगा कि वह स्वयं– आत्मा, अनुभवकर्त्ता, विचारक–किसी दूसरी धरती का प्राणी है परन्तु इस नश्वर दुखद संसार में उलझ गया है। यह एक दुखद संसार है। अपनी अनुभूति के बल पर वह अमर लोक की ओर अपनी प्रगति में और अधिक तीव्रता ला सकता है ।

जैसे ही हमारे समक्ष भावात्मक प्रमाण आते हैं, हम और निश्चयात्मक ढंग से अनुभव करते हैं कि, ''अब मैं उन बातों को देखता हूँ और सुनता हूँ और यह कि यह अनुभव हमारे अब तक के चतुर्दिक जागतिक अनुभवों से कहीं अधिक सत्य है । जगत भ्रामक है किन्तु जो मैं अब देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, कहीं अधिक सत्य है ।''

आत्मा, परमात्मा और दिव्य लोक के बीच सीधा सम्बन्ध सम्पर्क संभव है । हम जहाँ इस समय जी रहे हैं वह परोक्ष लेन-देन का धरातल है, पहले आंख, कान आदि अनुभव एकत्रित करते हैं, तत्पश्चात् वह मन तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया के अनन्तर हम इस जगत का अनुभव कर पाते हैं। किन्तु आत्मा के विषय में इस प्रकार की कोई परोक्ष प्रक्रिया नहीं है । आत्मा को बिना किसी यन्त्र-उपकरण अथवा माध्यम के सीधे-सीधे स्वयं प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं ।

एक दूरबीन से हम एक वस्तु देखते हैं जबकि खुली आंख से वही वस्तु कुछ और दिखलायी पड़ती है । दोनों में एक अन्तर है । आंख, कान आदि के सहारे हमें इस जगत का कुछ अनुभव है, किन्तु जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, ज्ञानेन्द्रियाँ हमारी सहायता में असमर्थ हैं। हाँ यदि हम इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अपने को वापस खींच सकें और इस प्रकार आत्मा पर केन्द्रित हो जायें तो हम बाह्य जगत से मुक्त होकर आत्म-दर्शन कर सकेंगे तथा अनुभव करेंगे कि ''आह ! यह आत्मा है !'' अब बिना किसी उपकरण के हम स्वतः प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे कि हम क्या हैं?

आत्मा अपने को देख सकती है और अन्तर्दर्शन द्वारा जिज्ञासु अपने सच्चे स्वरूप को अनुभव कर सकेगा । अन्तर्दर्शन की प्रक्रिया द्वारा आत्मा बिना किसी अन्य उपकरण की सहायता के प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रति सारे रूपाकारों का प्रत्यक्ष कर सकेगी । तब वह अपनी वास्तविक भूमि को समझ सकेगा, वह एक उच्चतर कोटि की भूमि की अवधारणा प्राप्त कर लेगा । उसके भावात्मक पक्ष में उसे यह सत्य प्राप्त होगा कि 'मैं मरता नहीं ।'

भौतिक धरातल मिथ्या प्रतिनिधित्व और भ्रम का धरातल है जबकि उच्चतर धरातल में कहीं भ्रम नहीं है । एक बार उच्चतर धरातल में प्रवेश हो जाने पर हमारी धारणा आंशिक भले ही हो, किन्तु स्पष्ट और सत्य होगी । जिस किसी को यह अनुभव हो जायेगा कि वह निश्चयपूर्वक उससे सहमत होगा तथा आगे बढ़ने के लिये दृढ़-संकल्प हो जायेगा ।

सुकरात अनुभव कर सके कि आत्मा अमर है । उसे इस विचार के प्रति इतना दृढ़ विश्वास था कि उन्होंने इस नश्वर जगत में अपने जीवन को कोई महत्व ही नहीं दिया । उन्होंने निश्चिन्ततापूर्वक इस जगत से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया क्योंकि उन्हें आत्मा की अमरता में अडिग विश्वास था । ईशु को भी अपने प्रभु में इतना विश्वास था कि उन्होंने इस जगत के सुखों की तनिक भी परवाह नहीं की । उन्होंने उपेक्षापूर्वक लौकिक सुखों को ठुकरा दिया ।

इन चर्म चक्षुओं के लिये जो अनेक वस्तुयें अदृष्य होती हैं, वे ज्ञान के नेत्रों के लिये दृष्य हैं । हमें मानना होगा कि ज्ञान के नेत्रों को वे तमाम वस्तुयें दिखलायी पड़ती हैं जिन्हें चर्मचक्षु नहीं देख सकते । इसी प्रकार एक गहन दृष्टि है जिससे हम वस्तुओं को एक भिन्न तथा अधिक आशाप्रद दृष्टि से देख सकते हैं : ''आओ और देखो !'' आँख जब तक मोतियाबिन्द से ग्रस्त है तब तक देख नहीं सकती, किन्तु मोतियाबिन्द के हटते ही वह देख सकती है । अज्ञान हमारी आँख में मोतियाबिन्द की भाँति है जो हमें अन्धा कर देता है। हमारी दृष्टि सतही है किन्तु गहन एवं सूक्ष्म दृष्टि बहुत कुछ देख सकती है । हमारी भौतिक आँखों को यदि ज्ञान की दृष्टि का सहारा मिल जाय तो वे गहन से गहनतर बहुत सी वस्तुओं को देख सकती हैं ।

हमारी ऊपरी दृष्टि का कोई मूल्य नहीं है । वास्तविक मूल्य का निवास तो उस दृष्टा में है, जो मर्मभेदी दृष्टि से देखने में समर्थ है । और सब समान नहीं है : बुद्धिमान लोग

हैं, उनसे भी अधिक बुद्धिमान लोग हैंऔर यह शृंखला चलती ही रहती है । एक क्रमागत स्तरीयता है और अपनी सामर्थ्य के अनुसार दृष्टा देखेगा ।

यह देखना आसान है कि वर्तमान काल में हम इस नश्वर जगत के प्राणी हैं परन्तु हम उससे किसके माध्यम से जुड़े हैं? वास्तव में हमारा शरीर ही उक्त जगत का सदस्य है । यदि हम शरीर का अतिक्रम कर सकें तो हम मन, फिर बुद्धि और अन्ततः आत्मा तक जा सकते हैं । हम पायेंगे कि वह धरातल जहाँ आत्माओं का निवास है शाश्वत है और आत्मा स्वयं भी शाश्वत है । वहाँ से हम परमात्मा की खोज में अग्रसर हो सकते हैं, जो हमारे सारे विचारों का उद्‌गम है। परमात्मा की तुलना सूर्य से की गयी है जो प्रकाश की समस्त किरणों का स्त्रोत है । एक बार प्रकाश की एक किरण पा जाने पर हम सूर्य तक पहुँच सकते हैं जो सभी किरणों का उद्‌गम है । इसी प्रकार अपनी निजी आत्माओं की अवधारणा से अपने को चिदंश समझ कर हम दिव्य-चित्, दिव्य-ज्ञान और दिव्य-सत् का सन्धान कर सकते हैं। इस प्रकार हम सम्पूर्ण सत्ता के मूल कारण की ओर अग्रसर हो सकते हैं किन्तु हमारी यह यात्रा केवल अपनी इच्छा तथा स्वतंत्रता के अनुसार नहीं हो सकती, स्वयं उस धरातल से कुछ सहायता अत्यन्त आवश्यक है । इस प्रकार की सहायता गुरु, वैष्णवों एवं अन्य मार्गदर्शकों के रूप में प्राप्त होती है । उनकी सहायता से हम अभीष्ट लक्ष्य की ओर सच्ची प्रगति कर सकते हैं ।

वर्तमान में लगता है कि हम जो कुछ देखते हैं उसके स्वामी हैं किन्तु जिसे हम देखते हैं वह क्षणिक, नश्वर एवं प्रतिक्रियात्मक है । यदि हम परीक्षा की सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि यह सब प्रतिक्रियात्मक है । जो आज सुखद है, बाद में कष्टप्रद हो जायेगा, अतः हमें कहीं और सुदृढ़ स्थिति की खोज करनी है-एक ऐसे सुन्दर स्थान की खोज जहाँ हम अपना घर बना सकें । इस खोज के दौरान हम पायेंगे कि हमारा अपना घर भी है और वह सब दृष्टियों से पूर्ण है।

हमें इस प्रकार का सुखद अनुभव होगा कि अपने घर, ईश्वर के पास, अपने निज-निकेतन वापस आ जाओ । वह नितान्त मधुर निवास है । भगवान के भक्तों तथा फरिश्तों से यदि कदाचित् हमें उस दिव्य लोक में भाग लेने का सुअवसर प्राप्त हो जाय, तो हमें इस प्रकार का आह्लाद अनुभव होगा । उन लोगों की सहायता हमें हमारी उचित भूमि पर पहुँचा देगी और तब हमें कुछ वास्तविक तथा स्पष्ट अनुभव होगा कि हमारा वास्तविक घर है किस प्रकार का ? इस रूप से हम उस दिशा में आगे बढ़ेंगे ।

प्रारम्भ में हमें ऐसा प्रतीत हो सकता है कि आखिर हम किस अनजाने क्षेत्र में जा रहे हैं : ''आज मैं जिस संसार में हूँ वहाँ मेरे इर्द-गिर्द असंख्य प्राणी निवास करते हैं किन्तु जहाँ जाने का मैं अब प्रयास कर रहा हूँ वह एक अनिश्चित'' स्थान है । वह संसार मेरे लिये अभी अमूर्त तथा काल्पनिक है। फिर भी जब हम अपनी यात्रा आरंभ करेंगे, हम शनैः शनैः पायेंगे कि लगभग सारा अस्तित्व उसी दिशा में है,

अर्थात् यह दिशा जहाँ सब कुछ सत्यमय है । हम पायेंगे कि यह भौतिक पक्ष बड़ा क्षीण और सीमित है, और यह उस सत्य की एक छोटी सी अभिव्यक्ति है ।

यहाँ से हम यह सोच सकते हैं कि अधिकांश सत्ता यहीं है तथा सुकरात, मुहम्मद, बुद्ध आदि जैसी कुछ विशेष आत्मायें ही यहाँ से अमर लोक को जाती हैं । किन्तु धीरे-धीरे हमारी समझ में आयेगा कि उच्चतर लोक इस प्रपंचात्मक जगत से जिसे हम यहाँ देखते हैं, अनन्तगुणित महान है । शनैः शनैः हम समझ सकेंगें कि जिस प्रकार एक देश में कुछ लोग जेल अथवा अस्पताल में बन्द होते हैं तथा कष्ट भोगते हैं उसी प्रकार इस लौकिक धरातल पर दण्ड स्वरूप कुछ लोग निवास करते हैं । जैसे यह स्थिति स्पष्ट होती है हम आगे बढ़ने के लिये और अधिक साहस अनुभव करेंगे तथा अपने निजधाम की ओर दौड़ लगाने लगेंगे । चलो हम घर चलें और ज्यों-ज्यों हम घर के समीप पहुँचेंगे, हमारी गति तीव्र से तीव्रता होती जायेगी—''अहा ! यह है मेरा परम धाम । ''

इस समय हम बाहर परदेश में हैं और हमारा मन भी बहिर्मुखी है । हम निराश्रय भटक रहे हैं । हमारी आशा केवल देवदूतों की कृपा पर टिकी है । वे हमें उठाने आते हैं और हमें चेतावनी देते हैं, ''तुम कर क्या रहे हो उस ओर मत जाओ। वह खतरे की, मृत्यु की भूमि है। मेरे साथ आओ । मैं तुम्हें शाश्वत अमृत के देश में ले चलूँगा ।'' वे देवदूत हमें हमारी निद्रा से, हमारी अज्ञानजन्य विक्षिप्तता से जगाने के

लिये आते हैं । वे वैष्णव हैं और उन्होंने ऐसे शास्त्र प्रदान किये हैं जो उस बहिर्देश का कुछ इतिहास एवं वहाँ पहुँचने वाले सन्तों का कुछ विवरण देते हैं । शास्त्रों के माध्यम से हमारी श्रद्धा धीरे-धीरे बढ़ेगी और हम साधुओं के साथ अधिकाधिक साहचर्य स्थापित करने लगेंगे। ऐसे करके हम बड़ी द्रुत गति से प्रगति कर सकेंगे ।

कोई व्यक्ति आध्यात्मिक पक्ष पर सच्ची प्रगति कर रहा है अथवा नहीं इसमें उसका अपना अनुभव ही प्रमाण है । हृदये नाम्भ्य नुज्ञातो । वह अपने ही हृदय से अनुमोदन प्राप्त करेगा कि वह वास्तविक प्रगति कर रहा है । प्रलोभन देकर एक दिशा में किसी को कुछ दूर बढ़ाया जा सकता है किन्तु कुछ समय बाद उसे निराशा ही हाथ लगेगी । इस प्रकार के प्रयास वास्तविक नहीं हैं—वे मिथ्या एवं आडम्बरपूर्ण हैं । धर्म के नाम पर व्यवसाय की भाँति ऐसी बहुत सी बातें चलती रहती हैं, किन्तु उससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि वास्तविक साक्षात्कार एवं सच्चा मोक्ष है ही नहीं । हृदये नाभ्यनुज्ञातो -अन्तिम प्रमाण तुम्हारे अपने ही हृदय का अनुमोदन है, ''हाँ, वास्तव में जो मैं चाहता था, वह यही है यह जानकर कि ऐसी प्रगति संभव है मेरा हृदय अन्तर्तम से आनन्दोल्लास में नाच उठना चाहता है ।''

●

भाग तीन

सामान्यतया इस संसार में हम कर्मरत लोग हैं, ऐसे मनुष्य जो ऊर्जा प्राप्त करने के लिये पर्यावरण और प्रकृति का शोषण करते हैं । प्रयास सदा यह रहता है कि अपनी इच्छानुसार उपयोग के लिये अधिकाधिक ऊर्जा एकत्रित कर लें । उस एकत्रित ऊर्जा को कभी आवश्यकता के लिये बचा रखने की भी हमारी कोशिश रहती है । सामान्य रूप से यहाँ इस संसार में जीने वालों का यह स्वभाव ही होता है । और यदि उस प्रयास में कोई बाधा आती है तो ऐसा मान लिया जाता है कि वे परिस्थितियाँ जो अधिकाधिक ऊर्जा के संचय में बाधक हैं बहुत बुरी हैं । क्योंकि ऊर्जा का संचय ही हमने जीवन का अभीष्ट बना रखा है । किन्तु हमें अपनी आन्तरिक सम्पदा के महत्व को स्मरण दिलाने हेतु यह परामर्श दिया गया है कि हमको अपनी बाह्य प्रकृति की अपेक्षा अपनी आन्तरिक प्रकृति तथा आन्तरिक सम्पत्ति के सम्बन्ध में अधिक जागरुक रहना चाहिये । यदि हम बाह्य सम्पत्ति के संकलन में चूक गये तो वह हमारे लिये उतना घातक नहीं

होगा जितना जाने-अनजाने हमारे द्वारा अपनी अन्तः प्रकृति की सम्पदा के संकलन में उपेक्षा घातक सिद्ध होगी । क्योंकि आन्तरिक अस्तित्व ही हमारे भीतर छिपा वास्तविक मनुष्य है। इस बिन्दु पर हमें बहुत सावधान रहना है जो कुछ बाहर से आता है वह उतना महत्वपूर्ण नहीं है, वह सब आता जाता रहता है यहाँ तक कि शरीर भी जो इस समय हमारे सारे चिन्तन का केन्द्र है नष्ट हो जायेगा । तो फिर इस शरीर के लिये इतनी अधिक ऊर्जा के संकलन की क्या आवश्यकता है? अपनी अन्तरात्मा में विराजमान अपने वास्तविक मनुष्य को जगाओ । उसे खोजने का तथा उसके लिये सहायता एकत्रित करने का प्रयास करो । किसी साधु की संगति से ही यह अभियान संभव है ।

वह दिन हमारे लिये बड़े घाटे का दिन है जब हम किसी सन्त से नहीं मिल पाते तथा जीवन के सार एवं रहस्य के विषय में उससे सत्संग लाभ करने से वंचित रह जाते हैं। अपने निज स्वरूप के विषय में सतत सावधान रहो । अपने वास्तविक स्वरूप के सन्धान द्वारा अपने सच्चे लाभ के प्रति जागरुक रहो । बाह्य संसार तथा परिस्थितियों की उपेक्षा करो तथा सत्य में अर्थात् अपनी आन्तरिक सम्पदा में गहरा गोता लगाओ । अपने भीतर जहाँ तुम्हारी निजात्मा का निवास है, अपने सच्चे स्वरूप तथा सच्चे संसार को खोज। उस घर को ढूँढने का प्रयत्न करो । वापस प्रभु के पास, वापस अपने सच्चे घर को । अपने वास्तविक घर को पहुँचने में ऊर्जा का सदुपयोग करो । उसे इधर-उधर भटकने तथा

विराने देश : मृत्यु के देश में घूमने में व्यर्थ मत करो। हर कीमत पर मृत्यु के देश से बचने का प्रयास करो तथा सदैव शाश्वत भूमि को खोजने का प्रयास करो। तुम्हें यह खोज निकालना है कि तुम उस अविनाशी लोक के प्राणी हो। यह जानने का प्रयास करो कि तुम्हारा घर कहाँ है और वही तुम्हारा घर क्यों है? गृह सुख—परम धाम-सुख का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ है कि वह हमारा नितान्त सहज निवास है जिस पर हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। हमें इस तथ्य का सामना करना है कि हम अपने वास्तविक घर में नहीं हैं। किन्तु यदि उस सच्चे निवास के लिये हमारे भीतर कोई जिज्ञासा तथा व्यग्रता है तो हम भाग्यशाली हैं।

हमारी आवश्यकता है कि वह आन्तरिक प्यास कैसे बुझे ? हमारी भावना होनी चाहिये कि संसार यहाँ है, मैं यहाँ हूँ, किन्तु मैं असन्तुष्ट हूँ। मेरी अन्तरात्मा कैसे संतुष्ट हो।'' हम अभाव में हैं, यह अभाव किस उपाय से दूर हो ? इस समय हमारे पास यह रक्त-मांस का शरीर है, किन्तु इस शरीर के विषय में बहुत सारी बातें जानना अर्थात् यह जानना कि हड्डियाँ क्या हैं, नाड़ी-तन्त्र क्या है, रक्त क्या है-यह सब जानने का प्रयास अनावश्यक है। यह जानने की इच्छा है कि रक्त कैसे बनता है इत्यादि, मात्र अनावश्यक बाते हैं। हमारी जिज्ञासा इस प्रकार होनी चाहिये : ''मैं क्या हूँ, और मुझे कष्ट क्यों है? मैं नहीं जानता कि इन समस्याओं से अपने को मुक्त कैसे करूँ ?'' यही सामान्य प्रश्न है और हमें इसका समाधान ढूँढना है।

''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा– मैं कहाँ से आया हूँ ? मैं कैसे जी रहा हूँ तथा मेरा भविष्य क्या है ?'' यही मुख्य प्रश्न हैं जिन पर हमें अपना ध्यान केन्द्रित करना है और इनके समाधान हेतु हम को अपनी पूरी शक्ति लगानी होगी। यह केवल एक व्यक्ति पर नहीं लागू होता–यह केवल मेरी चिन्ता का विषय नहीं है– अपितु सभी लोगों की समस्या है।

समस्त जगत का स्त्रोत क्या है, इसे जानने का प्रयास उचित प्रश्न है किन्तु हर किसी वस्तु के विषय में जिज्ञासा करना शक्ति का अपव्यय मात्र है। शास्त्रीय जिज्ञासा का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है : ''मैं कहाँ से आया हूँ? मेरा पालन कौन करता है ? मेरा भविष्य क्या है ? मैं परेशान क्यों हूँ तथा मुझे आन्तरिक तृप्ति कैसे प्राप्त हो सकती है ?'' वास्तविक जिज्ञासा का यही स्वरूप होना चाहिये। अन्यथा तमाम तुच्छ वस्तुओं के बारे में जानने की इच्छा एक प्रकार की बीमारी ही है। उसे वास्तविक जिज्ञासा नहीं कहा जा सकता। शास्त्रीय रीति से जिज्ञासा न करने से एक के बाद दूसरे कौतूहल का ही जन्म होगा और उससे हमें कोई लाभ नहीं होगा। अतः सबसे पहले तो हमें प्रश्न करना सीखना होगा। हमें जानना होगा कि प्रश्न कैसे किया जाये ? तभी हमारी शक्ति का सदुपयोग होगा और वह व्यर्थ नहीं होगी।

जिज्ञासा तभी समुचित है जब वह इस दिशा में उन्मुख हो कि सच्चे लक्ष्य की प्राप्ति कैसे हो ? अतएव हमें अपनी जिज्ञासा को प्रामाणिक बना कर अपनी शक्ति को सुरक्षित

रखना होगा तथा उसे उचित दिशा में लगाना होगा । यह कलियुग है—कलह का युग और इसमें हमारा वास्तविक और एकमात्र आश्रय सच्चे सन्तों का समागम तथा कृष्ण नाम ही है । साधु संग कृष्ण नाम । ऐसा न करने पर हम पग पग पर भ्रमित होंगे ।

साधु संगे कृष्ण नाम एइ मात्र चाई
संसार जिनिते आर कोनो वस्तु नाई

श्री चैतन्य महाप्रभु ने इस को ही समस्त शिक्षा के सार-सर्वस्व के रूप में हमें प्रदान किया है और इसके सिवा अवांछनीय जंजाल से मुक्त होने के लिये अन्य कोई अधिक लाभप्रद वस्तु नहीं है ।

उन्होंने कहा है कि साधु साहचर्य के बिना केवल कृष्ण नाम संकीर्तन से भी हमारा अभीष्ट हित होना बड़ा कठिन होगा । हम आगे नहीं बढ़ सकेंगे । अतः एक शब्द में समाधान साधु-संग ही है । हमें एक सच्चे स्वरूप सिद्ध महात्मा का सानिध्य प्राप्त करना होगा, और तब शेष बातें स्वतः ही सुधर जायेंगी । तथा साधुओं की सुमेरु गुरु है। गुरुदेव उन सत्पुरुषों के शिरोमणि हैं जो मार्गदर्शन प्रदान कर सकते हैं । गुरु वही हो सकता है जो हमें संतोषप्रद ढंग से मार्गदर्शन प्रदान कर सके । अन्यथा हम प्राण पण से किस में विश्वास एवं आस्था रख सकते हैं एवं किसके प्रति पूर्णरूपेण निष्ठावान तथा समर्पित हो सकते हैं ? गुरु वह है जहाँ हमारी जिज्ञासा का सर्वतोभावेन समाधान हो जाये । उससे ही हमें उच्चतर धरातल से निर्देश प्राप्त होगा । उसकी

कृपा से हमारा सम्पर्क प्रेम के एक अत्यधिक उदात्त जगत से हो सकेगा । हमें उस उच्चतर एवं सूक्ष्म धारा से जुड़ना है । इस प्रकार हम लाभान्वित होंगे । यही सामान्य धारणा है ।

सामान्यतया हमें उच्चतर शक्तियों की कृपा पर सतत रहने का प्रयास करना है । उच्चतर क्षेत्रों के उच्च विचारकों की शरण ही हमारा वास्तविक आश्रय होना चाहिये। उस अवलम्बन से ही हम जीवन के उच्चतर तथा सूक्ष्मतम धरातलों से जुड़ सकेंगे । वास्तव में अनेक प्रकारों एवं अभिरुचियों की विविध धारायें हैं और उन सबके विभिन्न लाभ एवं हानियाँ हैं, किन्तु उच्चतम धारा के साथ सम्पर्क हमारा ध्येय होना चाहिये ।

हम देखेंगे कि इस जीवन के प्रति हमारा आकर्षण समाप्त हो गया है । हमें पहले ही इस तथ्य का अच्छा अनुभव था कि यह सब बासी है। वास्तव में जहाँ कहीं भी चार शत्रु: जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि है, वहाँ सच्चा सुख तो हो ही नहीं सकता । जहाँ मृत्यु होगी वहाँ किसी आनन्द का होना संभव ही नहीं है । ऐसे धरातल पर हम सदैव मृत्यु के आतंक के अधीन हैं, अतएव यहाँ सुख नहीं है । सारा सुख पूर्णतया नष्ट है । अत: हमें गंभीरतापूर्वक खोज करनी होगी हम वस्तुत: कहाँ जा सकेंगे । हमें ऐसे उच्चतर धरातल का चुनाव करना होगा जहाँ हम वास्तव में रह सकें ।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते
तद् धाम परमम् मम (भगवद्गीता 15.6)

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं, ''वह स्थान जहाँ से पुनः इस मृत्युलोक में लौटना न पड़े, मेरा परम धाम है।''

आब्रह्मँभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।।

(भगवद्गीता 8.16)

वे अर्जुन को उपदेश देते हैं, ''एक स्थायी स्थिति केवल मेरे धाम में संभव है। इस धरातल के सारे व्यापार, यहाँ तक कि राजाओं के कार्य कलाप भी, मात्र स्वप्नवत हैं। अतः यदि तुम इस स्वप्न लोक से मुक्त होना तथा सत्य में प्रवेश करना चाहते हो अपने को सत्यान्वेषण के योग्य बनाओ। तुम्हें सत्य के उस उच्च धरातल को प्राप्त करना होगा चाहे वह कितना ही सूक्ष्म हो, क्योंकि मृत्यु उसे निगल नहीं सकती। कुछ स्थायी निर्माण करने हेतु अपनी शक्ति का संचय करो। इस समय तुम अपनी शक्ति ऐसे निर्माण में लगा रहे हो जो अगले क्षण ही ढह जाने वाला है—यह एक मूर्खतापूर्ण प्रयास है।''

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।

(भगवद्गीता 6.5)

''ध्यान दो कि तुम अपने मित्र स्वयं हो। किन्तु तुम स्वयं ही अपने शत्रु भी हो। तुम अपने शत्रु हो यदि तुम अपनी वास्तविक प्रगति हेतु गंभीरता से सच्चा प्रयास नहीं करते। किन्तु तुम अपने मित्र भी हो सकते हो और कोई भी

तुम्हारी उतनी सहायता नहीं कर सकता जितनी तुम स्वयं कर सकते हो ।''

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः

(भगवद्गीता 6.6)

''यदि तुम वास्तव में कोई आत्म–संयम करने में सफल हो तो अपनी शक्ति को व्यर्थ बर्बाद होने से बचाओ और उसे उचित मार्ग में नियोजित करो जहाँ तुम सचमुच प्रगति कर सको और तब तुम अपने सच्चे मित्र होगे । किन्तु यदि तुम अपने को निरन्तर प्रकृति की विभिन्न इन्द्रियों के हाथ में छोड़ देते हो जो तुम्हें सदैव शोषण, प्रतिक्रिया तथा दुख के क्षेत्र में घसीटने का प्रयास कर रही हैं, तब तुम स्वयं अपने शत्रु हो ।''

विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु

(भगवद्गीता 18.63)

''विचार कर तथा गंभीरता से विचार कर तथा सही निर्णय पर पहुँचकर जैसी इच्छा हो वैसा कर ।'' मानव जीवन बड़ा मूल्यवान है। तुम्हारे अन्दर विवेक की शक्ति है, किन्तु प्रतिक्रियावादी धाराओं के अधीन तुम उससे वंचित हो जाओगे तथा एक वृक्ष, एक पेड़ अथवा इस प्रकार की विविध योनियों में जन्म लेने को बाध्य होगे । क्या तुम निश्चयपूर्वक कह सकते हो कि अपने अगले जन्म में तुम्हारा पशु योनि में पतन नहीं हो जायेगा ? इसकी क्या गारंटी है कि इस प्रकार तुम मनुष्य से पशु शरीर में नहीं चले जाओगे ?

ऐसा नहीं है कि सारी क्रियायें तथा सारी प्रगति केवल मृत्युलोक में ही होती हो। प्रगति केवल अन्धकार एवं अज्ञान के क्षेत्र तक सीमित नहीं है, किन्तु यदि तुम वास्तव में भावात्मक प्रगति में सम्मिलित होते हो तो तुम अनुभव कर सकोगे कि सच्ची प्रगति क्या है? हृदये नाभ्यनुज्ञातो–तुम अपने आन्तरिक अनुमोदन, अपने हार्दिक अनुमोदन से स्वयं अनुभव करोगे कि तुमने प्रगति की है। ऐसा नहीं है कि इस प्रकार कोई व्यर्थ की आशा जगायी जा रही है और तुम एक विदेश में पहुँचा दिये जाओगे जहाँ तुम्हारी हत्या, उत्पीड़न आदि हो सकता है।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक् एक–कालः
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः
क्षुद–अपायोऽनुघासम् (भागवत 11.2.42)

श्रीमद्भागवत के इस विख्यात श्लोक का आशय है कि जब तुम कुछ खाते हो, तुम्हारा पेट उसका साक्षी होगा। वह कहेगा, ''हाँ मैं खा रहा हूँ।'' भूख मिट जायेगी, शरीर पुष्ट हो जायेगा और खाने की तृप्ति मिल जायेगी। शरीर का पोषण होगा, शक्ति मिलेगी, तथा इन सबके साथ इस बात का तुम्हारा अपना ही आन्तरिक अनुमोदन होगा कि तुमने भोजन ग्रहण कर लिया है। पुनश्च और अधिक खाने की आवश्यकता नहीं अनुभव होगी। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन में तुम्हारी प्रगति के प्रमाणस्वरूप कई लक्षण प्रकट होंगे।

इस समय हमें मानव शरीर प्राप्त है, और यह हमारे लिये परम मूल्यवान समय है। किन्तु सदुपयोग के अभाव में

इसे हम गंवा रहे हैं। गलत विनियोजन के फलस्वरूप हमारी अत्यन्त मूल्यवान शक्ति नष्ट हो रही है । उत्तिष्ठतः जाग्रतः प्राप्यवरान् निबोधतः–अतः उठो, जागो और श्रेष्ठ लोगों से ज्ञान प्राप्त करो । इस कार्य में तुम केवल अपने लिये ही मत लगो अपितु औरों को भी इस अभियान में संलग्न होने के लिये प्रेरित करो । एक विशिष्ट रूप में ऐसा करना तुम्हें और अधिक लाभ प्रदान करेगा ।

मुख्य बात यह है कि एक श्रेष्ठ मार्गदर्शक के निर्देशन में होने से हम भक्ति मार्ग में इतने व्यस्त होंगे कि हमारे पास उत्तम कार्यों के सिवा क्षुद्र लौकिक विषयों में संलग्न होने का समय ही नहीं बचेगा । भक्तों के सानिध्य में ऐसा व्यस्त कार्यक्रम हमारे लिये बड़ा उपादेय होगा ।

●

भाग चार

कष्टप्रद संसार के वर्तमान परिवेश की उपेक्षा हेतु आन्तरिक आत्म-तुष्टि एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । वह आत्म-क्षेत्र के निकट पहुँचना है । वास्तविक भक्ति अहैतुकी होती है, वह अपना कारण स्वयं है । वह कारण रहित है और स्वयं अपने द्वारा होती है । जैसा कि हीगेल ने कहा सत्ता अपने द्वारा है । सत्ता कोई अमूर्त्त वस्तु नहीं है, सत्ता का अर्थ है एक प्रणाली, एक ऐसी प्रणाली जो अपने द्वारा अस्तित्वशील रहती है । वह अनादि और अहैतुकी है । वह शाश्वत है तथा उसे कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । भक्ति अपना कारण स्वयं है। ये परिभाषायें इसलिये दी गयी हैं ताकि हम भक्ति का आशय समझ सकें । भक्ति किसी अन्य वस्तु द्वारा सृजित नहीं है, वह शाश्वत रूप से विद्यमान है, किन्तु उस पर आवरण पड़ गया है। हमारा कर्त्तव्य है कि उस आवरण को हटायें, भक्ति को प्रकाशित करें । भक्ति एक शक्यता के रूप

में छिपी है । बाह्य सहायता वश साधन द्वारा वह धीरे-धीरे प्रकट होगी । वह जैसे सुषुप्त है-आवश्यकता है उसे जगाने की । उसके आवरण हैं : अन्याभिलाषा, कर्म तथा ज्ञान अर्थात् चलायमान वासनायें, आसक्ति तथा विरक्ति विषयक सुनियोजित प्रयत्न अथवा उदासीनता । हमें इन आवरणों को हटाना है और तब भक्ति अपनी दिव्य आभा के साथ प्रकट हो जायेगी ।

सत्य के प्रति निष्ठा एवं आकर्षण बहुत कम दिखलायी पड़ता है । विशेषकर आधुनिक युग में तो और भी नहीं, जहाँ सारा विचार शोषण की ओर उन्मुख है यहाँ तक कि ज्ञानका शोषण भी । आज ज्ञान भी शोषण के लिये हो गया है और इससे प्रलय सी खड़ी हो गयी है । आणविक ऊर्जा तथा अन्य अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शोध भारी चिन्ता के विषय बने हुये हैं : किसी भी क्षण विश्व के विनाश का अंदेशा है । यह वैज्ञानिक ज्ञान हमें उस स्थिति में पहुँचा चुका है कि किसी भी क्षण सारा किस्सा समाप्त हो सकता है । यह ज्ञान आत्मघाती है । जगत में इस प्रकार के ज्ञान की वृद्धि का अर्थ है कि उसके फलस्वरूप हम आत्महत्या पर उतारू हो गये हैं। शोषण का अर्थ है प्रतिक्रिया । अतः यदि हम सामान्य एवं बड़े पैमाने पर शोषण को स्वीकार करते हैं तो परिणाम भी व्यापक विनाश–प्रलय, महाप्रलय ही होगा । कुछ भी हो प्रलय होगी– वह चाहे परमाणु बम से हो अथवा अन्य किसी प्राकृतिक घटना से और तत्पश्चात् पुनः सृष्टि : जन्म और मृत्यु, जन्म और मृत्यु प्रत्येक व्यक्ति फिर जन्म लेगा मरेगा, तथा संपूर्ण

सौर मण्डल भी पुनः जन्म लेगा और मरेगा । यह चक्र बिना अन्त के चलता रहेगा ।

यदि हम इस जाल से निकलना चाहें तो हमें इन्द्रियों से अनुभूत इस वातावरण से मुक्त होना होगा । भगवद्गीता तथा उपनिषदों में भी लिखा है कि इन्द्रियाणि पराण्याहुरू । हमारी इन्द्रियों का केन्द्रीय तथा प्रधान महत्व है क्योंकि यदि आँखें, कान, नाक स्पर्श आदि चले जायें, तो हमारे लिये सारा संसार ही समाप्त है । चूँकि हमारी ज्ञानेन्द्रियां हैं अतः हमारा संसार भी है । अनुभव के जगत में हमारी इन्द्रियों का बड़ा महत्व है । तब इन्द्रियेभ्यः परं मनः—मन हमारे भीतर है और मन है क्या ? वह हमारे भीतर की चयन शक्ति का नाम है, ''मुझे यह चाहिये, मुझे वह चाहिये।'' मुझे कुछ वस्तुयें प्रिय हैं, कुछ नापसन्द हैं और ऐसा भीतर विद्यमान मन की शक्ति के कारण ही है । मन इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि मैं बेखबर हूँ तो संभव है कोई व्यक्ति मेरे सामने से चला जाये और मैं कहूँ, ''ओह ! मैंने उसे देखा ही नहीं । मैं न तो उसे देख सका न सुन सका। मैं बेखबर था ।'' इस प्रकार मन केन्द्र है तथा वह हमारी ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है ।

ज्ञानेन्द्रियाँ बाह्य जगत की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हैं और मन ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि संवेदनाओं का संग्राहक मन न हो तो अनेक दरवाजों की भाँति इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं । इसके पश्चात् एक और सूक्ष्म

तत्व हमारे भीतर है जिसे तर्क अथवा बुद्धि कहते हैं– मनसाससु परा बुद्धिर्–उसे खोजना है । उस बुद्धि का लक्षण क्या है ? मन कहेगा, ''ओह मैं उसे लूँगा'' किन्तु बुद्धि कहेगी ''ओह ! नहीं । उसे तुम मत लो । वंह कोई न कोई क्षति पहुँचायेगा । तुम इसे ले लो, यह तुम्हारे लिये लाभदायक है।'' चुनाव की वह शक्ति, वह बुद्धि, हमारे भीतर मन की अपेक्षा एक उच्चतर शक्ति है ।

तब–बुद्धिर्यः परतास्तु सः – जो बुद्धि से भी श्रेष्ठतर है वह स्वयं आत्मा है ।

इस प्रकार हमें विभिन्न तत्वों को खोज निकालना है । बाह्य विषय जगत की अपेक्षा हमारी इन्द्रियां अधिक महत्वपूर्ण हैं, हमारी इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है हमारा मन और मन से भी ऊपर विवेक-बुद्धि है जो और अधिक श्रेष्ठ, सूक्ष्म तथा विश्वसनीय है, तथा तत्पश्चात् एक और श्रेष्ठतर तत्व है जो बुद्धि से भी परेऔर अधिक महत्व का है और वह है हमारी आत्मा– बुद्धिर्यः परतास् तु सः। और उसका स्वरूप क्या है, उसका लक्षण क्या है ? वह प्रकाश स्वरूप है ।

शास्त्रों में उदाहरण दिया गया है कि एक चांदनी रात में आकाश में बादल हो सकता है जो चन्द्रमा को ढक रहा है–किन्तु वह बादल भी चन्द्रमा की ज्योति से ही दिखलायी पड़ता है । वेदों के रचयिता व्यासदेव कहते हैं कि आत्मा उसी प्रकाशक चन्द्रमा की भांति है । अथवा सूर्य की भांति है : सूर्य

को बादलों ने ढक रखा है किन्तु बादल स्वयं सूर्य के प्रकाश से दिखलायी पड़ते हैं । इसी प्रकार आत्मा हमारे भीतर प्रकाश के केन्द्र की भांति है और क्योंकि वह पृष्ठभूमि में विराजमान है अतः हम अपने मानसिक प्रणाली का अनुभव कर सकते हैं । यदि प्रकाश मिट जाये तो सब कुछ नष्ट हो जायेगा । यदि वह प्रकाश तिरोहित हो जाये तो मानसिक तन्त्र, बुद्धि, चयन-शक्ति तथा अन्य सारे उपकरण जिनके माध्यम से हम बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करते हैं, मूल्यहीन हो जायेंगे । वह प्रकाश आत्मा है तथा वह इस जगत की अन्य समस्त वस्तुओं से स्पष्टतया भिन्न है । आत्मा प्रकाश की एक किरण है और एक प्रकाशलोक भी है जो आत्माओं से बना है, तथा इस प्रकार विकास की पुनः एक शृंखला है– आत्मगत से पराआत्मगत तक आत्मा से परमात्मा तक । जिस प्रकार भौतिक जगत में विकास का एक क्रम है : हम पहले आकाश, वायु, ताप, जल, पृथ्वी फिर पत्थर का प्राकट्य देखते हैं उसी प्रकार सूक्ष्मतर क्षेत्र में भी एक विकास क्रम है : बुद्धि से आत्मा, आत्मा से पराआत्मा और तत्पश्चात् परमात्मा ..... । इस प्रक्रिया से आत्मनिष्ठ पक्ष की प्रगति है जो अन्ततोगत्वा अनन्त तक जाती है। वह पर-आत्मगत है ।

अपने विकास के सिद्धान्त में डार्विन ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु जड़तत्व से आविर्भूत है । उसने कहा है कि गर्भ तक में सर्वप्रथम कोई जड़तत्व ही है जो विकसित होता है तथा उस जड़ वस्तु के विकास से चेतना भी धीरे-धीरे

विकसित होती है । सामान्य अर्थ में डार्विन की मान्यता है कि चेतना का उदय जड़तत्व से होता है । किन्तु अध्यात्मवादी उक्त सिद्धान्त में विश्वास नहीं करते । वे मानते हैं कि चैतन्य सब कुछ है, और शेष समस्त जगत चैतन्य के महासिन्धु में तैर रहा है । इसे आध्यात्मिक विकास कहते हैं। डार्विन वस्तुनिष्ठ, भौतिक विकास की बात करते हैं, किन्तु वेदादि शास्त्रों की मान्यता है कि सम्पूर्ण सृष्टि आत्मगत–आध्यात्मिक विकास के अन्तर्गत आती है । जैसा कि एक यूरोपियन दार्शनिक बिशप बर्कले ने कहा है, ''ऐसा नहीं है कि मन जगत में हो, अपितु वास्तव में जगत ही मन में है ।'' सब कुछ चेतना के धरातल पर तैर रहा है । चैतन्य समस्त अस्तित्व में पूर्वमान्य है । दूसरेशब्दों में चेतना के अभाव में अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती ।

डार्विनवादियों का कथन है कि आरंभ में फॉसिल था । किन्तु फॉसिल कहते किसे हैं? फॉसिल का तात्पर्य है कि एक प्रत्यय-विशेष, तथा उसका अर्थ है चेतना का एक अंश । इसलिये हम कहते हैं कि चैतन्य परम मौलिक तत्व है । आरम्भ में किसी भी वस्तु की सत्ता मानी जाये, यह मानना ही पड़ेगा कि चैतन्य उससे भी पूर्व अस्तित्व में था, अन्यथा हम किसी आदिक वस्तु के विषय में कोई वक्तव्य नहीं दे सकेंगे। इसलिये वैदिक सत्य कहता है कि ब्रह्म-निरपेक्ष तत्व का सर्वव्यापी निर्गुण पक्ष–आत्माओं का स्त्रोत है तथा आत्मा से भी ऊपर परमात्मा है । प्रपंचात्मक जगत में सारा विकास

अंधकार अर्थात् अज्ञान के क्षेत्र में होता है, वह विकास का काला पक्ष है। किन्तु एक उज्ज्वल पक्ष भी है : एक शाश्वत जगत है जिसकी सत्ता अनेक आनन्दमय क्रियाओं से परिपूर्ण है— आनन्दमय एवं सुखमय समुद्र की अनन्त लहरों से भरी हुयी।

इस प्रकार हमें समझना है कि जीवन में हमारा कर्त्तव्य क्या है, मानव जीवन का विशिष्ट महत्व क्या है, तथा उसका सदुपयोग किस प्रकार करना चाहिये। धार्मिक मान्यतायें अनेक हैं किन्तु सत्य के जिज्ञासुओं को उनके बीच एक समन्वयात्मक समाधान निकालना होगा। ऐसा करने के लिये हमें एक तुलनात्मक अध्ययन आरंभ करना होगा।

शास्त्रों का विधान है कि हमें अपनी मान्यता बहुत आसानी से नहीं बदल देनी चाहिये। उदाहरणार्थ एक कमान्डर अपनी सेना से कहेगा, ''अपनी पोजीशन मत बदलो। उसकी रक्षा के लिये मर भले ही जाओ।'' किन्तु जब अवसर आयेगा, वह कहेगा, ''आगे बढ़ो।'' इसी प्रकार शास्त्रों ने कहा है, ''अपने पूर्व कर्मों के अनुसार जहां कहीं तुम्हारा जन्म हुआ है, जहां कहीं तुम स्थित हो उसे छोड़ने का प्रयास मत करो, अन्यथा तुम्हारा पतन हो सकता है।'' किन्तु इसके साथ ही जब उचित अवसर उपस्थित होता है, वे कहते हैं, ब्रह्म की ओर आगे बढ़ो और प्रगति करो। इस प्रकार भगवद्गीता का कथन है— 'आसानी से अपने पूर्व कर्मों के फलस्वरूप अर्जित अपने वर्तमान स्थान को

मत त्यागो—उसमें मर भले ही जाओ ।' किन्तु पुनः कृष्ण कहते हैं:

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

''जब तुम केन्द्र की ओर बढ़ने का अवसर पाओ, तो हर कीमत पर वैसा अवश्य करो ।'' यह क्रान्तिकारी पद्धति है । एक संवैधानिक पद्धति है, दूसरी क्रान्तिकारी पद्धति है। क्रान्तिकारी पद्धति हर प्रकार का जोखिम उठा कर केन्द्रीय, सत्ता की ओर कूच कर देने की पद्धति है, और चूंकि यह मानव जीवन इस प्रकार का खतरा उठाने का सर्वश्रेष्ठ अवसर प्रदान करता है, अतः हमें उक्त अवसर का लाभ उठाने में कोई कसर नहीं छोड़नी है ।

केवल मानव जीवन में ही व्यावहारिक रूप से तुम्हारी विवेक-शक्ति तथा निर्णय-शक्ति का उपयोग है । यदि तुम अपनी इस स्थिति को खो देते हो और पशु—योनि अथवा वनस्पति जगत में चले जाते हो, तो किसी को पता नहीं कि तुम पुनः स्वतन्त्र एवं ऐच्छिक निर्णय लायक मानव जन्म में कब वापस हो सकोगे । अतएव यह मानव जीवन परम महत्व का हैं तथा तुम्हें इसका दुरुपयोग आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि जैसे पशु-सुलभ कार्यों में नहीं करना चाहिये। यह सब तो मानवेतर तुच्छ योनियों में भी सर्वत्र उपलब्ध रहेगा । यदि तुम एक पशु बन जाओ अथवा किसी अन्य जीव-योनि— पक्षी, मच्छर, मक्खी अथवा कीट-पतंग आदि—में चले जाओ तो वहाँ भी ये सब इन्द्रियभोगजन्य सुख मिल

जायेगें । किन्तु जहाँ तक आत्मा की खोज, धर्मपरायणता एवं अन्य मानवोचित उपलब्धियों की बात है, तुम्हें मानव जीवन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकते । संतों के सानिध्य में इन सार बातों पर विचार किया जा सकता है । इस प्रकार तुम अपने जीवन में उन्नति कर सकते हो तथा अपने को बचा सकते हो । किन्तु यदि मानव जीवन प्राप्त करके भी तुम इस सुअवसर को गंवा देते हो, तो तुम वास्तव में आत्मघात कर रहे हो, बल्कि उससे भी कुछ अधिक ही । जो मानव जीवन पा कर भी अपने को बचाने का, पूर्ण मुक्ति का समुचित प्रयास नहीं करता, वह वास्तव में आत्म-हनन करता है ।

●

''अथातो ब्रह्म जिज्ञासा — मैं कहाँ से आया हूँ?
मैं कैसे जी रहा हूँ तथा मेरा भविष्य क्या
है?'' यही मुख्य प्रश्न हैं जिन पर हमें
ध्यान केन्द्रित करना है और इनके
समाधान हेतु हम को अपनी पूरी
शक्ति लगानी होगी । यह
केवल एक व्यक्ति पर नहीं
लागू होता–यह केवल
मेरी चिन्ता का
विषय नहीं है–
अपितु सभी
लोगों की
समस्या
है ।

Chitralekha 82475